

संपादकीय

दिनेश सिंह

‘नये-पुराने’ का यह अंक एक अरसा बाद आपके हाथों में है। किन्हीं अपरिहार्य कारणों से बीच में इसका प्रकाशन बंद करना पड़ा था पर अब स्थितयां कुछ अनुकूल लगती हैं और विश्वास बनता है इसके माध्यम से कविता पर बातचीत चलती रहेगी बशर्तें सहृदय पाठकों, लेखकों और कवि बन्धुओं का जरूरी सहयोग मिलता रहे।

आज के आपाधापी के युग में जहां अर्थ-संचय की दौड़ में हर कोई शाश्वत मानव मूल्यों को ध्वस्त करता हुआ धावक की भूमिका निभा रहा है, तमाम भारतीय कला विधाओं में एक विचलन की स्थिति पैदा हुयी हैं जिसमें कविता की स्थिति सर्वाधिक जटिल हो गयी है। चूंकि कविता केवल वस्तुस्थिति का चित्रांकन ही नहीं करती वरन मानवीय उदात्त मूल्यों की स्थापना व उसके संवहन का दायित्व भी निभाती है। इसलिए भौतिक दबावों से उसमें विचलन की गुंजाइश अधिक रहती है।

आज कविता विवादों से घिरी है। कवि समीक्षक अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग लेकर बैठे हैं, गा-बजा रहे हैं। कौन सुन रहा है, कौन नहीं सुन रहा है इससे किसी का लेना-देना नहीं है। गीत और कविता के दो विपरीत ध्रुव स्थापित हुए हैं जैसे गीत कविता से हटकर अलग कोई तथ्य हो और उसका जीवन के लयात्मक व्यापार से कोई रिश्ता ही न हो और तुरा यह कि गीत भी दो मुँह के हो गये जिनमें एक को गीत या पारंपरिक गीत और दूसरे को नवगीत कहा जाने लगा है। अपने-अपने तर्कों-कुतर्कों के ढकोसलों से आच्छादित बेमानी बहस-मुहाबसों की एक अपरिचित नयी दुनिया रचायी-बसायी जा रही है।

कविता मानव-मन की स्वतः स्फूर्त लयात्मक अभिव्यक्ति है। जीवन की जिस गुणगुनाहट को अन्य कला विधाएं मानवीय संवेदन से भरे-पुरे राग में नहीं गा पाती उसे कविता गाती है। गीत उसी गान की गूँजती हुयी लय है। यह लय गीतकार के कंठ में सूखती जा रही है इसीलिए आज का गीतकार बहुत गुस्से में है। उसकी तई इस गुस्से के लिए जिम्मेदार उसके चारों ओर का परिवेश है जिससे वह अपनी भावनात्मकता का तालमेल नहीं बिठा पा रहा है। वह जन्मना जिन उदात्त मूल्यों का संवाहक और मानवीय मूल्यों का पोषक बनकर अपने इतिहास पर गर्व करता रहा है आज का परिवेश उन सभी मूल्यों, तत्त्वों को नकारता, धकियाता हुआ उसे नितान्त अजाने मूल्यगत बन्धनों से घेर-बाँध रहा है। वह बेचैन है, तिलमिलाया हुआ है पर अद्भुत है कि उसकी यह तिलमिलाहट और बेचैनी किसी सकारात्मक सोच से संश्लिष्ट होकर एक सर्वथा नयी व प्रासंगिक रचना धर्मिता से नहीं जुड़ पाती बल्कि अधिकतर सारा का सारा गुस्सा नयी कविता पर उतर रहा है, यह है क्या इसे प्रबुद्ध पाठक, कवि, समीक्षक ही तय करेंगे।

सच तो यह है कि परिवेश और व्यक्ति के संबंध अन्योनाश्रित हैं। प्रायः रचनाकार अपने परिवेश से पूरी तरह प्रभावित रहता है। शून्य में रचना या रचनाकार की कोई स्थिति नहीं होती। किन्तु परिवेश जितना रचनाकार की मानसिकता के रचाव में अपनी भूमिका निभाता है, उतना ही रचनाकार भी परिवेश को प्रभावित करता है। या यों कहें कि जीवन और परिवेश आपस में एक-दूसरे को रचते-सहेजते चलते हैं। रचनाकार अपने निजत्व और अपने चारों ओर परिव्याप्त परिवेश में अपना रचना-सूत्र और कथन के तत्व तलाशता है, उन्हें अपने राग-बोध से संश्लिष्ट कर भाव-समाधि तक ले जाता है, जहाँ एक जीवन व्यापी गूँज के सहारे रचना रूप, आकार और शिल्प ग्रहण करती है। यह साधने और सधने की प्रक्रिया है जिसे ‘साधना’ का नाम दिया जा सकता है। पर कविता या गीत किसी गणित का सवाल नहीं है जिसे किसी विशेष फॉर्मूले से हल किया जा सके या सिद्ध किया जा सके। साधनापरक सिद्धि के बिना ही कुछ सिद्ध करने की अकुलाहट अराजकता को जन्म देती है।

नयी कविता पर जो आरोप है कि उसके द्वारा गीत को नकारा जा रहा है वह शायद वैसा और उतना नहीं है, जितना और जिस रूप में समझा और समझाया जा रहा है। प्रश्न शायद नकारने-स्वीकारने का नहीं है बल्कि प्रासंगिकता और युग सापेक्षता का है क्योंकि नयी कविता के कवि अपने को युगबोध और समसामयिकता का प्रखर प्रवक्ता मानते हैं जो अपेक्षतया कुछ सही भी हो सकता है क्योंकि गीत तो अपनी माटी से जुड़कर शिल्प-वस्त्र धारण करता है। अपने देशज मिजाज के कारण वह अपनी एक सनातन संस्कृति का संवाहक बनकर अपनी परिचित पहचान के साथ रहना चाहता है जबकि नयी कविता अन्तर्राष्ट्रीयता के उद्घोष के साथ अपनी परायी सभी सोचों के महासमुद्र में विलीन हो जाना चाहती है। सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं को रेखांकित करने और उनसे जूझने के संदर्भ में नयी कविता का विश्वास ‘लोह को लोहे से काटने’ का है जबकि गीत इस भूमिका में पानी से पाथर काटने की सूक्ष्म अभिव्यक्ति और स्वीकारोक्ति से दर्पित है। गीत इस देश की, इस भारत-भूमि की महानता और इसके ऐतिहासिक सानुबंधों को थाती रूप में समेटे रखना चाहता है जबकि नयी कविता महानता के स्थान पर

विराटता की स्थूल अभिव्यक्ति का मानक बनना चाहती है। इस तरह तो दोनों हैं और रहेंगे अपनी-अपनी भूमिकाओं में अलग-अलग, जरूरी और प्रासंगिक।

दरअसल कविता का आदिरूप तो गीत ही है। निराला ने भी इस गीत को तरजीह दी पर जब उन्होंने कविता को जनजीवन से जोड़ने और सहज अभिव्यक्ति के लिए जटिल शास्त्रीयता को सरलीकृत करने के महान उद्देश्य से छंद के बंधन तोड़ने की बात की तो जैसे कान्ति हो गयी। सभी को काव्य की रचना प्रक्रिया ही बड़ी सरल लगने लगी। निराला के सूत्र के एक सिरे को पकड़कर प्रयोगवादी इस देश की माटी से ऊपर और बाहर पश्चिम की ओर भागकर काव्य की जड़ता को तोड़ने के नाम पर कुछ ईट-रोड़ों की खोद-खदान कर लाये और विदेशी ढप्पों से जड़े मूल्यों-कीमतों का प्रचार-प्रसार करने लगे। साथ ही काव्य में जातीय अस्मिता के सवाल को पिछड़ेपन की मानसिकता की उपज कहने लगे। ये 'फारेन रिटर्न' डिग्रीधारी काव्य-भंगिमाएँ हमारे कवि-समीक्षकों को इतनी रास आयी कि बड़े-बड़े 'नामवरों' ने अपनी सारी रचनात्मक ऊर्जा उसकी स्थापना और प्रचार-प्रसार में खपा दी।

आज जो खूँरेजी, अनाचार और किसी भी कमबद्ध जीवनदर्शन की संहिता को तिलांजलि देने की अधुनातन संस्कृति विकसित हो रही है, उससे सामंजस्य बिठाने वाला कोई काव्य दर्शन तो इस देश की माटी को स्वीकार न होगा जबकि उग्रवादियों और नक्सलियों का भी बाकायदा अपना साहित्य और दर्शन हो गया है। ठाकुर प्रसाद सिंह ने अपने गीतों के संदर्भ में कहीं जिक्र किया है कि भारतीय संस्कृति पर हो रहे आधुनिकता के अंधाधुंध आक्रमण के विरुद्ध एक अहिंसात्मक धारदार हथियार की खोज में, वे संधालों के बीच चले गये जहाँ उन्हें -'वंशी और मादल' के गीत मिले। यानी गीत अपनी माटी के पृष्ठ पर अंकित 'समक्ष' का दस्तावेज है। एक विवेचनात्मक दृष्टि है उसके पास जो जितनी इतिहासपरक और देशज है उतनी ही आधुनिक भी है। यही दृष्टि गीतकार को निर्णय लेने में सक्षम बनाती है और हमें अपने निर्णायक होने का संकेत भी देती है। वस्तु-जगत, सृष्टि और संयोग का एक प्रेमपगा सूत्र है उसके हाथ जो यथार्थ का खीझ भरा चित्रण ही करती है। फिर भी जरूरी नहीं है कि जीवन-जगत से जुड़ी सभी स्थितियों को सर्वागत: गीत ही व्यक्त कर सके। अनुभूति के कुछ ऐसे भी क्षण, स्थितियाँ व भंगिमाएँ हो सकती हैं जिन्हें सार्थक और चुटीली अभिव्यक्ति नयी-कविता में ही मिल सके। इस तथ्य को इस अंक में प्रकाशित डॉ० रामदर श मिश्र का आलेख बखूबी और काफी साफगोई से प्रस्तुत करता है। गीत और नयी कविता के बीच उपजे विवाद को निरस्त करने में डॉ० मिश्र का आलेख बहुत उपयोगी है और 'नये-पुराने' की सोच से उसका पूरा-पूरा तालमेल बैठता है। फिर भी 'नये-पुराने' की ओर से इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि जीवन में जिसके जहाँ-जितना गीति-तत्व रचा-बसा है, वहाँ से उतना ही बाहर आता है और जहाँ नहीं है, वहाँ से जो है वह आता है। इसी कारण नयी कविता और गीतकी संवेदनाएँ अलग-अलग हो जाती हैं। तरल गीत के साथ और मार से पथरायी हुयी कविता के साथ। इस तरह कविता और गीत का कथ्य भी अलग हो जाता है। निरे वाह्य प्रभावों के दबाब से जो प्रतिक्रियात्मक संवेदना जन्म लेती है, वह नयी कविता के साथ हो जाती है। इस अर्थ में नयी कविता प्रतिक्रियात्मक अधिक है पर वह भी प्रासंगिक और जरूरी है क्योंकि हर स्थिति की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति शर्तिया तरल नहीं हो सकती। इसी कम में एक बात और कि नये गीतों या नयी कविता के प्रारंभिक दौर में जिसे अज्ञेय द्वारा 'नयी कविता का गीत' कहा गया और जिसे नयी कविता के साथ उसी स्वरूप में यहाँ-वहाँ रखा गया, वह यदि नयी कविता के साथ आज भी रहती तो हिन्दी काव्य साहित्य को और नयी कविता को भी एक लाभ मिलता कि गीत की आत्मीय प्रवृत्ति और प्रकृति की संपृक्ति के कारण वह रस विहीन न हो पाती और अपनी भाषिक संरचना के स्तर पर उसकी भंगिमाएँ स्वयमेव भारतीय बनी रहती या इस रूप में स्वीकार की जाती तथा उस पर विदेशी होने का आरोप भी न लगता। चूंकि कविता का आदि स्रोत गीत ही रहा है इसलिए नयी कविता को गीत से इतर अपनी स्वतंत्र पहचान और अस्मिता की स्वीकृति पाने के लिए उसके मूल तत्व नाद और लय से उसे अलग होना पड़ा। क्योंकि परिवेश की समरूपता और एकात्मकता के साथ वस्तु में कोई विशेष बंटवारा किया नहीं जा सकता था। फिर भी यह अद्भुत है कि जो नयी कविता के कवि गीत की जमीन पर पैर रखकर वहाँ तक गये हैं उनकी रचनाओं में आज भी गीत का प्राणतत्व उपस्थित मिलता है। चाहे वे धर्मवीर भारती हो, जगदीश गुप्त हों, रामदरश मिश्र हो अथवा अब्दुल बिस्मिल्लाह ही क्यों न हों। किन्तु जो सीधे नयी कविता में आये हैं वे कविता की नैसर्गिक रागात्मकता से अपरिचित होने के कारण खुरदुरे और दुरुह हो गये हैं।

आज गीत की भी विडम्बनायें कम नहीं हैं। गीत (पारंपरिक) और नवगीत के पचड़े में गीतिकाव्य की बड़ी क्षति हो रही है। दोनों गीत-संज्ञाओं के पक्षधर बाकायदा शिविरबद्ध हो गये हैं और तर्कों कुतर्कों के अस्त्र-शस्त्रों से लैस एक दूसरे के प्रति आक्रामक मुद्रा में तने हुये हैं। सबसे अधिक फजीहत है उस गीत की जिसे नवगीत कहा जाता है। इस घरेलू विवाद के परिप्रेक्ष्य में इतना ही कहना समीचीन होगा कि नवगीत में गीत की अवधारणा निरस्त नहीं होती। गीत के ही पायदान पर नवगीत खड़ा हुआ है। हमारी कहन, अंदाज और रागात्मक लय भीतर से आती है तथा वैचारिकता, बौद्धिकता परिवेश के दबाब से अनस्यूत होती है जहाँ दृश्य की अनुभूतियाँ कम और भोगने की अधिक होती है। हमारी संस्कृति का दबाब, कथन में मनुष्यत्व की पूरी दीप्ति, उदात्तता और मानवीय गरिमा नवगीत की संरचना, लय और गुँज में व्याप्त रहती है। रचना के दौरान जातीय चेतना का आवेग पूरी रचना प्रक्रिया को प्रभावित किये रहता है। गीत तो स्वयं ही अपनी भाषा और अपने शिल्प का चुनाव करता है। अभिव्यक्ति के क्षणों में वह अपनी कहन को भीतर ही भीतर गुँजाता हुआ बाहर आता है। गीतकार तो मात्र उपकरण बनकर, माध्यम बनकर रह जाता है। गीत जितना ही बौद्धिक आयाम से अपने को सुरक्षित रखता है उतना ही वह खरा उतरता है। केन्द्रीय सोच के

साथ-साथ उसकी आत्मीय गढ़न पूरे गीत में बजती रहती है। इस संदर्भ में प्रस्तुत अंक में रामस्वरूप सिन्दूर, भारत भूषण और रमानाथ अवस्थी के गीत देखे जा सकते हैं।

प्रस्तुत अंक में परंपरा-प्रयोग और आधुनिकता का जो खंडो में विभाजन है वह गीत के स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक विकासक्रम को प्रस्तुत करने के प्रयास में है न कि यह गीत विधा का वर्गीकरण है। गीत तो गीत ही है चाहे उसे पारंपरिक कहे या नवगीत। हां, रचना की श्रेष्ठता ही उसे गीत बनायेगी अन्यथा उसे तुकबन्दी ही मानना पड़ेगा। प्रस्तुत अंक में डॉ० शिवबहादुर सिंह भदौरिया का आलेख 'विवाद के बाहर: गीत-नवगीत' उक्त बिन्दु पर अच्छा प्रकाश डालता है।

डॉ० रवीन्द्र भ्रमर गीत (नवगीत) को फिर एक नया संस्कार देना चाहते हैं क्योंकि उन्हें चिन्ता है कि नवगीत की तरलता और ताजगी अब विलुप्त होती जा रही है और वह रूढ़ तथा बासी हो रहा है वे अब 'अतिगीत' की बात करते हैं। इस संबंध में 'पत्रमत: गीत-मत' में उनके विचार संकलित हैं।

डॉ० जगदीश गुप्त कविता के उन सशक्त एवं प्रख्यात हस्ताक्षरों में से हैं। जिन्होंने शास्त्रीय छन्दो से लेकर नयी कविता तक में अपनी संवेदनाओं को भरपूर रेखांकित किया है। चूंकि वे कलाकार की हैसियत से रेखाओं को माध्यम बनाकर अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते रहे हैं इस नाते सृजन की सभी भंगिमाओं में उनकी कला का दबाव बराबर बना रहा है। इधर वे अस्वस्थ रहे हैं। उनकी अस्वस्थता के दौरान ही भाई हीरामणि सिंह साथी ने उससे भेटकर 'नये-पुराने' के लिए उनसे विचार लेने का प्रयास किया। उनका वक्तव्य 'अथ-बोध' खंड में बहस के लिए अविकल रूप में प्रस्तुत किया गया है।

विशिष्ट रचनाकार खंड में इस बार हमने डॉ० शिवबहादुर सिंह भदौरिया को प्रस्तुत किया है। डॉ० भदौरिया उन गीतकारों में से हैं जो पारंपरिक गीतों से लेकर नवगीत तक की यात्रा में निरपेक्ष भाव से गीत के साथ रहे हैं। उनकी यह यात्रा किसी वाद या आन्दोलन के दबाव में नहीं हुयी बल्कि बदलते परिवेश में स्वतः स्फूर्त आवेग और अनुभूतियों के आग्रह की परिणित रूप में उन्हें साथ लेकर चली है। नीरव पलों में गीत की गूँज में जीने वाले गीत के योगी डॉ० भदौरिया गीत की समाधि में उतरकर गीत से सीधे साक्षात्कार करते हैं। गीत के सम्पूर्ण विकासक्रम को समझने तथा सच्चे गीत को गुनगुनाने के लिए डॉ० भदौरिया की रचना और उनकी रचनाधर्मिता से होकर गुजरना सुखद लगेगा।

डॉ० श्रीपाल सिंह 'क्षेप' ने अपने आलेख 'गीत: मानव चेतना की एक अनिवार्यता' में गीत की शास्त्रीय अवधारणा और व्याख्या प्रस्तुत करते हुये आधुनिकता-बोध और यथार्थ से उसकी संगति व संपृक्ति के सूत्र भी तलाशते हैं। उन्होंने गीत को वस्तु और चेतना के एकात्मिकरण की सघनतम अनुभूति की आस्थामय अभिव्यक्ति मानकर उसके सही रूप-स्वरूप को निरूपित करने का प्रयास किया है।

डॉ० सुरेश गौतम ने गीत के संपूर्ण विकास क्रम की उस कड़ी को महत्वपूर्ण मानते हुये तत्संबंधित रचनाधर्मिता को अपने आलेख में समेटा है जो परंपरा और नवता के बीच सामंजस्य की स्थापना में समन्वयक की सी भूमिका निभाती लगती है।

डॉ० ओम प्रभाकर के आलेख से गीत (नवगीत) की पृष्ठभूमि, उसकी वैचारिकता और उसकी विकास यात्रा की स्पष्ट झांकी देखने को मिलती है।

डॉ० श्याम सुन्दर घोष ने 'नये-पुराने' के लिए कुछ गीत भेजे जिन्हें वे आंचलिक गीत कहते हैं। उनके पाँच आंचलिक गीत 'आधार और अवधारणा' के साथ इस अंक में प्रस्तुत हैं।

चूंकि प्रस्तुत अंक में गीतों पर ही बात होनी है इसलिए जरूरी है कि लोकगीतों पर भी बात की जाये और मर्म तथा संवेदन की उस जादूगरी को देखा जाये जिन्हें लोक गीतकार ने जाने इतिहास के किन क्षणों में बिना लिपिबद्ध किये पूरी ईमानदारी से स्वर संयोजन के साथ पूरी मस्ती से हवा में ऐसे उछाला होगा कि वे युगों से एक कंठ से दूसरे कंठ में उतरते चले गये और आज भी लोक वेदना को गाये जा रहे हैं। जो मानते हैं कि आज के बेसुरे कविता-समय में गीत अप्रासंगिक हो गया है, वे इन लोकगीतों के प्रभाव को जाँचे परखें। ये लोकगीत आज भी आधुनिक कवियों के 'टीचर' होने की योग्यता रखते हैं।

जनकवि मानबहादुर सिंह की निर्मम हत्या, वसु मालवीय का एक सड़क दुर्घटना में असामयिक निधन तथा डॉ० धर्मवीर भरती का हमारे बीच से अकस्मात चले जाना 'नये-पुराने' को बहुत खला। 'स्मृति शेष' खंड में हम उनकी याद कर 'नये-पुराने' की ओर से उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

अंत में हम प्रस्तुत अंक के लिए रचना सहयोग प्रदान कर इसे रूप और आकार देने वाले सभी रचनाकारों के आभारी हैं। इस अंक के बाद हम 'गीत अंक-दो' निकाल रहे हैं। इसके लिए सामग्री संचयन का कार्य चल रहा है। सभी गीत-रचनाकारों विचारकों और समीक्षकों का हम अगले अंक हेतु रचना-सहयोग सानुरोध आमंत्रित कर रहे हैं।

नये पुराने गीत अंक-1 (1997)

सम्पर्क-
ग्राम-गौरा रूपई
पो.-लालूमऊ
जनपद-रायबरेली (उ.प्र.)

(नये पुराने गीत अंक-1, सम्पादक-दिनेश सिंह, प्रकाशक-राजेन्द्र राजन, द्वारा-नेहरू युवा केन्द्र, सीतापुर, उ. प्र.,
मुद्रक-माहेश्वरी एण्ड संस, नाका हिंडोला, लखनऊ, उ.प्र., वर्ष-1997, मूल्य-रु 35/-, प्रष्ठ-244)

<http://geetpahal.webs.com>